शिकागो वक्तृता

स्वामी विवेकानन्द

शिकागो वक्तृता

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ९

वर्ष १९४३ से २०१८ तक : ४,५१,१००
तीसवाँ पुनर्मुद्रण : २७.७.२०१८
मुद्रित प्रतियाँ : ५०,०००

मुद्रक :
ॲक्वा प्रोसेस, नागपुर

वास्तविक मूल्य : रु. १२.००
रियायती मूल्य : मात्र रु. ५.००

वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

हिन्दी जनता के सम्मुख यह पुस्तक रखते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यह पुस्तक श्री स्वामी विवेकानन्द जी के हिन्दू धर्म पर विश्वविख्यात व्याख्यान Chicago Address का हिन्दी अनुवाद है। यह अनुवाद पहले अद्वैत आश्रम, बनारस द्वारा प्रकाशित हुआ था और उस आश्रम के अध्यक्ष श्री स्वामी शान्तानन्द जी के हम आभारी हैं जिन्होंने हमें इस अनुवाद को फिर प्रकाशित करने की अनुमति दी है। पहले का अनुवाद श्री बाबू ठाकुर प्रसाद तथा श्री पं. उमा शंकर जी बी. ए. ने किया था। इन सज्जनों के इस अनुवाद कार्य में उस आश्रम के एक संन्यासी ने भी बहुत सहायता दी थी।

प्रस्तुत पुस्तक में यत्रतत्र बहुत हेरफार कर दिए गए हैं तथा अनेक संशोधन भी हुए हैं। इसमें भगिनी निवेदिता (मिस् मार्गरिट नोबल) की 'भूमिका' भी शामिल कर दी गई है। साहित्य शास्त्री प्रोफेसर श्री पं. विद्याभास्कर जी शुक्ल, एम्. एस्सी. पी. ई. एस्. कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर के हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस पुस्तक के संशोधन कार्य में हमें बहुमूल्य सहायता दी है।

हमें विश्वास है कि इस प्रकाशन से हिन्दी प्रेमी सज्जनों को विशेष लाभ होगा।

नागपुर
श्री शिवानन्द जयन्ती,
ता. २.१.१९४३

— प्रकाशक

अनुक्रमणिका
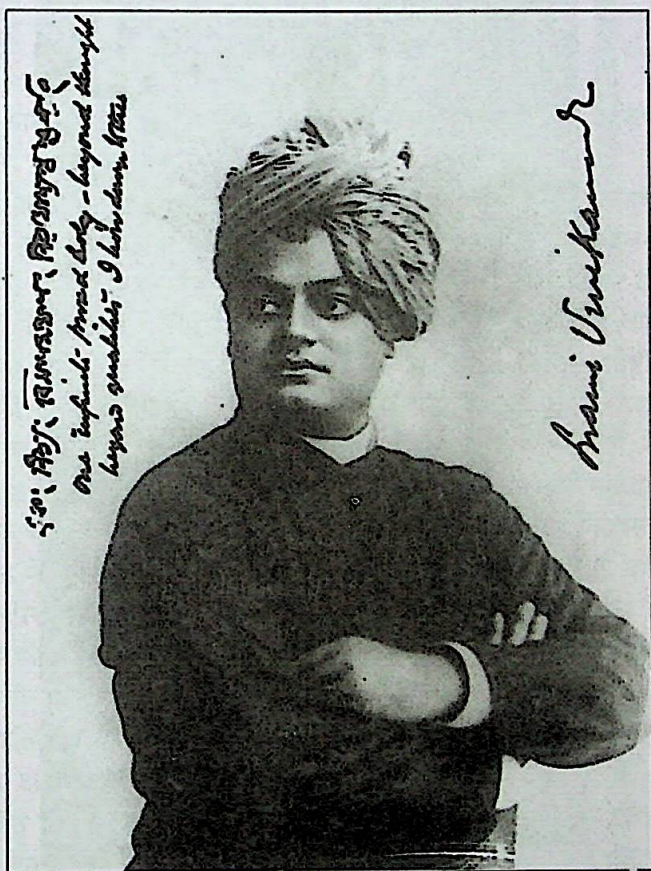
स्वामी विवेकानन्द

शिकागो धर्म-महासभा में स्वामी विवेकानन्द

भूमिका

सन् १८९३ ई. में विश्व-प्रदर्शनी के उपलक्ष्य में शिकागो में जो धर्मसभा हुई थी, वही विश्व-धर्मपरिषद थी।

पाश्चात्य देशों में आजकल आमतौर से होनेवाली प्रदर्शनियों के साथ-साथ विज्ञान, कला तथा साहित्य-सम्बन्धी बैठकों का होना भी एक रिवाजसा हो गया है। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि ऐसी प्रत्येक बैठक उन विषयों के इतिहास में चिरस्मरणीय हो जाएगी, जिनकी उन्नति मानव-जाति के लिए वांछित है। इन बैठकों के पीछे उद्देश्य यह रहता है कि अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शनी के नाम पर मानवों का जो एक विराट् समूह एकत्र होता है, उससे औषधिशास्त्र, न्यायशास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा विद्या के अन्यान्य क्षेत्रों में, तात्त्विक गवेषणा एवं प्रायोगिक शोध सम्बन्धी आपसी विचार-विनिमय द्वारा उन सबका संवर्धन हो सके। साहस एवं मौलिकता से प्रेरित शिकागो निवासियों के मन में यह विचार आया कि संसार के प्रमुख धर्मों का सम्मेलन ही अन्य सब परिषदों में उच्चतम एवं श्रेष्ठ होगा। अतः ऐसा प्रस्ताव रखा गया कि इस सम्मेलन में प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधि का भाषण हो और श्रोतागण प्रत्येक प्रतिनिधि के उन विचारों को सहानुभूति और ध्यानपूर्वक सुनें, जिनके कारण उस प्रतिनिधि को अपने धर्म में अटूट श्रद्धा है। उन्होंने यह सोचा कि इस प्रकार आपस में समभाव के मेल-जोल तथा भाषण की स्वतन्त्रता से सब एकत्रित प्रतिनिधियों का एक धार्मिक सम्मेलन अर्थात् 'पार्लमेंट' बन जाएगा और इस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों में आपसी बन्धुत्व-भाव के जो आधार हैं, वे संसार के लोगों के सम्मुख भलीभाँति रखे जा सकेंगे।

इसी समय दक्षिण भारत में कुछ शिष्यों ने, जिन्हें इस बात का बहुत थोड़ा ज्ञान था कि किसी दूसरे देश में प्रतिनिधि किस प्रकार भेजे जाते हैं,

अपने गुरुदेव से इस बात का अनुरोध किया कि वे इस अवसर पर अमेरिका जाकर हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि-रूप में अपना भाषण दें। अटूट भक्ति से प्रेरित उन शिष्यों को यह ध्यान नहीं आया कि वे एक ऐसी बात की इच्छा कर रहे थे जो साधारण दृष्टि से असम्भव-सी थी। उनका ऐसा अनुमान था कि स्वामी विवेकानन्द वहाँ चले भर जायँ और उन्हें प्रतिनिधि का स्थान दे दिया जाएगा। इधर स्वामीजी भी अपने शिष्यों की ही भाँति सांसारिक व्यवहारों में सरल प्रकृति के थे; और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि उनको वहाँ भेजने की प्रेरणा दैवी ही थी, तो फिर उन्होंने अधिक अनिच्छा नहीं प्रकट की।

स्वामीजी भारतवर्ष की किसी मान्य संस्था द्वारा नहीं भेजे गये थे और न उन्हें किसी प्रकार का निमन्त्रण-आमन्त्रण ही प्राप्त हुआ था। फिर उधर इस परिषद में प्रतिनिधियों को घटाने-बढ़ाने का समय भी निकल चुका था तथा उनकी संख्या भी निर्धारित हो चुकी थी।

अब पाठक अनुमान करें कि स्वामीजी शिकागो पहुँचकर किस निराशा से वापस लौटे होंगे। पर उन्होंने चाहा कि भारतवर्ष लौटने के पहले बोस्टन शहर में ही चलकर कम से कम किसी से भेंट-मुलाकात तो कर लें।

इस प्रकार बिना अपनी कोई निश्चित योजना के वे किसी प्रकार हार्वर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर राइट के पास पहुँच गये। प्रोफेसर राइट ने स्वामीजी की प्रतिभा को फौरन ताड़ लिया और उनके मद्रास के शिष्यों के समान ही यह अनुभव करने लगे कि आगामी परिषद के अवसर पर स्वामीजी का सन्देश विश्व के सम्मुख अवश्य आना चाहिए। स्मरण रहे कि बाद में एक बार प्रोफेसर राइट ने स्वामीजी को लिखा भी था कि आपसे आपकी योग्यता के बारे में प्रमाण माँगना मानो सूर्य से यह पूछना होगा कि उसे प्रकाशित होने का क्या अधिकार है। प्रोफेसर राइट के इस स्नेह तथा प्रभाव ने स्वामीजी को फिर शिकागो वापस भेज दिया और इस प्रकार उस परिषद में एक प्रतिनिधि के रूप में उन्हें स्थान तथा सम्मान प्राप्त कराया।

परिषद की कार्यवाही जब प्रारम्भ हुई, तो सभामंच पर चाहे वे अकेले

ही भारतीय, अकेले ही बंग-देशीय सज्जन भले ही न रहे हों, परन्तु हिन्दुधर्म के तो वास्तव में वे ही एकमात्र प्रतिनिधि थे। शेष सब प्रतिनिधि किसी न किसी संस्था, मत अथवा पन्थ के थे। परन्तु विश्व को समग्र हिन्दुओं के भावों का दिग्दर्शन करानेवाले केवल वे ही थे और हम कह सकते हैं कि सब से पहले उसी दिन उनके द्वारा हिन्दुधर्म को एकसूत्रता तथा स्पष्टता प्राप्त हुई। उनके श्रीमुख से भारतवर्ष का वह धर्म निःसृत हुआ, जिसे उन्होंने दक्षिणेश्वर में अपने श्रीगुरुदेव में मूर्त रूप लिये देखा था तथा जिसका अनुभव उन्होंने परवर्ती काल में अपने वर्षों के भारत-भ्रमण में किया था।

उनके भाषण ऐसे ही समन्वयात्मक विषयों पर हुए, जिनके सम्बन्ध में भारतवर्ष में एकमत है, न कि उन विषयों पर जिन पर मतभेद है। सर्व-धर्म-परिषद का अन्तरराष्ट्रीय विभाग सत्रह दिन तक चला और उसमें भिन्न भिन्न लेख एवं निबन्ध पढ़े गये। स्वामी विवेकानन्दजी का निबन्ध १९वीं तारीख को पढ़ा गया, परन्तु पहले दिन से ही जब कि प्रतिनिधियों का औपचारिक स्वागत तथा उनके प्रत्युत्तर हे थे, स्वामीजी का सम्बन्ध श्रोतागणों से स्थापित हो गया था। स्वामीजी का उत्तर तीसरे प्रहर दिन को कुछ देर से हुआ; और जब सहज हिन्दू-पद्धति के अनुसार उन्होंने अमेरिका-निवासियों को **'अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण'** कहकर सम्बोधित किया, तब तो तमाम श्रोताओं में एक जोश की लहर-सी दौड़ गयी। कारण यह था कि प्राच्य के इस संन्यासी ने स्त्रियों को पहले स्थान दिया और सारे विश्व को अपना कुटुम्ब मानकर सम्बोधित किया। ये सारी बातें मुझे उन लोगों से ज्ञात हुई हैं, जिन्होंने यह सब स्वयं सुना था। वे लोग यह भी कहते थे कि हम लोगों में से किसी को यह कभी नहीं सूझा। कहा जा सकता है कि स्वामीजी की भावी सफलता शायद उसी समय से निश्चित हो चुकी थी। और अन्तं में तो यह परिस्थिती हो गयी थी कि श्रोताओं को अन्य प्रतिनिधियों के भाषण में गुलगपाड़ा मचाने से रोकने के लिए, परिषद के कार्यकर्ताओं को उन्हें यह आश्वासन दिलाना पड़ता था कि यदि वे चुपचाप बैठे रहेंगे, तो अन्त में स्वामीजी उन्हें कोई मनोरंजक संवाद सुनायेंगे अथवा

कोई भाषण देंगे।

हिन्दुधर्म के इतिहास में यह परिषद इस धर्म के वैशिष्ट्यकाल की द्योतक है और ज्यों ज्यों समय बीतेगा, त्यों त्यों इसका महत्त्व अधिक स्पष्ट होगा। ऊपरी दिखावे तथा प्रदर्शन की दृष्टि से भी इस प्रतिनिधियों की बैठक ने आरम्भ से अन्त तक वास्तव में एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया होगा, जैसा कि हम अपने समय में शायद ही देख सकें। करोड़ों मनुष्यों के धार्मिक प्रतिनिधि इस सभामंच पर उपस्थित थे। उस दृश्य का अन्दाज लगाने के लिए इस धर्म-परिषद के विश्वस्त इतिहास के लेखक रेवरेण्ड जॉन हेनरी बैरोज के कुछ अंशों को हम उद्धृत करते हैं :–

"निश्चित अवसर के काफी पहले से ही सभा-भवन में प्रतिनिधि तथा दर्शकगण आने लगे और 'कोलम्बस हॉल' चार हजार उत्सुक श्रोताओं से भर गया, जो उस तथा अन्य देशों के भिन्न भिन्न भागों से आये थे। ठीक दस बजे हॉल के मध्य मार्ग में आपस में हाथ में हाथ डाले हुए दस-बारह भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने विभिन्न देशों के लहराते झण्डों के नीचे करतल-ध्वनि के बीच पदार्पण किया। इस अवसर पर सभामंच की सजावट देखते ही बन पड़ती थी। सब के बीच में लाल रंग के वस्त्र धारण किये हुए एक ऊँची कुर्सी पर कार्डिनल गिबन्स बैठे थे। ये संयुक्त राज्य अमेरिका में अपने धर्मसम्प्रदाय के सबसे बड़े धर्मगुरु थे; और जैसा इन कोलम्बियन वर्ष में उपयुक्त ही था, वे प्रार्थना के साथ इस परिषद का उद्घाटन करनेवाले थे।

"उनके दोनों और प्राच्य प्रतिनिधि विराजमान थे, जिनके बहुरंगी वस्त्र उनके वस्त्रों से चमकीलेपन में होड़ लेते थे। ब्राह्म, बुद्ध तथा मुहम्मंद के अनुयायियों के बीच में भारत के प्रभावशाली वक्ता स्वामी विवेकानन्द प्रमुख प्रतीत होते थे। वे चमकदार लाल वस्त्र पहने हुए थे और उनके गोरे चेहरे पर एक बड़ा पीला साफा शोभायमान था। स्वामीजी के पास नारंगी तथा सफेद वस्त्र धारण किये हुए ब्राह्म समाज के बी. बी. नगरकर तथा सीलोन के विद्वान् बौद्ध पण्डित धर्मपाल बैठे हुए थे। धर्मपाल साढ़े सैतालीस करोड़

बौद्ध-जनों का शुभ सन्देश लेकर आये थे। उनका छोटा दुबला-पतला शरीर श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित था और उनके कन्धों पर काले घुंघराले बाल लटक रहे थे।

"वहाँ इस्लाम, पारसी तथा जैन धर्मगुरु भी उपस्थित थे। और हर एक के रंगीन वस्त्र तथा भाव आकर्षक प्रतीत होते थे। वे सब इस बात के लिए उत्सुक थे कि वे अपने अपने धर्म का स्पष्टीकरण तथा समर्थन करें।

"सब से अधिक भड़कीला समुदाय चीनी तथा जापानी प्रतिनिधियों का था, जो अपने देशों के प्रमुख धर्मनेता थे। वे सब कीमती रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्र पहने हुए थे और बौद्ध, टाओ, कन्फ्यूशियन तथा शिन्टो सम्प्रदाय के अधिकृत प्रतिनिधि थे।

"कृष्ण-वर्ण के वैरागी वेष में अपने अन्य प्राच्य बन्धुओं के बीच में ब्राह्म समाज के नेता प्रतापचन्द्र मजुमदार बैठे थे। वे इस देश में कुछ वर्ष पहले से आने लगे थे और यहाँ की बड़ी बड़ी सभाओं में श्रोतागणों को अपनी वक्तृता तथा आंग्ल भाषा पर अपने पूर्ण अधिकार द्वारा मुग्ध कर चुके थे।

"एक दूसरे आकर्षक व्यक्ति थे जान्ते के ग्रीक आर्चबिशप। उनकी सफेद मुलायम दाढ़ी उनके सीने पर लहरा रही थी। उनके सिर पर एक विचित्र प्रकार का टोप था और वे एक नक्काशीदार छड़ी के सहारे झुके हुए बैठे थे। उनकी कमर से लटकता हुआ एक बड़ा चांदी कां सतिया भी चमक रहा था। उन्हीं के पड़ोस में बैठे हुए एशिया माइनर के एक ग्रीक साधु, जिनके गाल लाल तथा लटें बड़ी बड़ी थीं, इस बात पर गर्व करते हुए दिखायी देते थे कि उन्होंने कभी सिर को ढकने के लिए कोई वस्त्र धारण नहीं किया और अपने असन-वसन के लिए ही कभी एक पैसा खर्च किया।

"वहीं पर श्यामवर्ण परन्तु चमकीले चेहरेवाले आफ्रिकन मेथॉडिस्ट चर्च के बिशप अर्नेट तथा एक नवयुवक आफ्रिकन राजकुमार भी थे। अपने

आसपास बैठी हुई स्त्रियों के सुन्दर वस्त्रों के बीच में इनके चेहरे प्रमुख प्रतीत होते थे। इन सब के पीछे प्रोटेस्टण्ट प्रतिनिधियों तथा आमन्त्रित सज्जनों के काले वस्त्र मानो गम्भीर पार्श्वभूमि सदृश थे।"

अपने अन्तिम भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने इस विश्वपरिषद की तुलना सम्राट अशोक की धर्म-सभा तथा अकबर बादशाह के धर्म सम्मेलनों से ठीक ही की और इस प्रकार इस परिषद के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकट किया। ऐसी विशाल महत्त्वाकांक्षापूर्ण योजना का विचार केवल इस धैर्यवान नूतनतम राष्ट्र को ही हो सकता था और केवल इस राष्ट्र की उच्चतम नागरिक भावना तथा दुर्दम्य उत्साह द्वारा ही यह योजना सम्पादित हो सकी थी। इस परिषद की श्रेष्ठ आयोजन का ही यह फल था कि वह हिन्दुधर्म के सर्वसंग्राहक विचारों की घोषणा करने के लिए एक अत्यन्त उपयुक्त स्थल बन सकी थी। वहाँ पर संसार के अत्यन्त अनुदार तथा संकीर्ण धर्म-मतों का सम्मेलन समानता तथा पारस्परिक श्रद्धा एवं स्नेह के आधार पर हुआ था। इन सब धर्म-मतों का भविष्य में फिर से इसी प्रकार इसी उद्देश्य से सम्मिलित होना सरल नहीं प्रतीत होता। सम्भव है कि शिकागो-धर्मपरिषद बहुत समय तक इतिहास में अद्वितीय रहे। खैर, यही वातावरण तथा दृश्य था, जिसमें हिन्दुधर्म ने पाश्चात्य देशों को अपना सर्वप्रथम परिचय दिया।

— निवेदिता
(मिस मार्गरेट नोबल)

शिकागो वक्तृता

प्रथम दिवस

(११ सितम्बर १८९३)

सभापति कार्डिनल गिबन्स के चारों ओर पूर्वदेशीय प्रतिनिधियों का समूह इकट्ठा था। इन प्रतिनिधियों के नाना प्रकार के रंगीन वस्त्र अपनी-अपनी भड़क दिखला रहे थे। ब्राह्म, बौद्ध और इस्लाम मतानुयायियों के बीच में भड़कीले गेरुए रंग का काषाय वस्त्र धारण किये हुए भारत के सुवक्ता संन्यासी स्वामी विवेकानन्द विराजमान थे और उनके गौर-वर्ण चेहरे पर पीत-वर्ण का साफा शोभायमान था।

सभा के कुछ कार्यक्रम के पश्चात् भारत के स्वामी विवेकानन्द सभा में उपस्थित किये गये। और जब आरम्भ में ही स्वामीजी ने श्रोतागणों को **"अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण"** कहकर सम्बोधित किया, तो हर्ष और उत्साह की ऐसी महाध्वनि गुंज उठी कि वह कई मिनट तक होती रही। इसके बाद उन्होंने अपना व्याख्यान इस प्रकार आरम्भ किया :-

अभिवादन के उत्तर में

अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण!

जिस सौहार्दता और स्नेह के साथ आपने हम लोगों का स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है। संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूँ तथा सब

धर्मों की मातास्वरूप हिन्दुधर्म एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

मैं उन सज्जनों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने इस सभामंच पर से प्राच्य-प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में आपको यह बतलाया है कि ये दूर देशवाले पुरुष सर्वत्र सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के निमित्त यश और गौरव के अधिकारी हो सकते हैं। मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को मान्यता प्रदान' करने की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। मुझे आपसे यह निवेदन करते गर्व होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूँ, जिसकी पवित्र भाषा संस्कृत में अँग्रेजी शब्द exclusion का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं! मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बतलाते गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन-जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये और हमारी जाति नें उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। भाईयों, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूँ, जिसे मैं अपने बचपन से गाता रहा हूँ और जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसांमर्णव इव।।*

– "जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा

---

* शिवमहिम्न स्तोत्र

सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।"

यह सभा, जो संसार की अब तक की सर्वश्रेष्ठ सभाओं में से एक है, जगत् के लिए गीता के उस अद्भुत उपदेश की घोषणा एवं विज्ञापन है, जो हमें बतलाता है –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।†

– "जो कोई मेरी ओर आता है – चाहे किसी प्रकार से हो – मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।"

साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्म-विषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गयी, इन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय आ गया है, और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि जो घण्टे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये गये हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जानेवाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्यु-नाद ही सिद्ध होंगे।

□□□

---

† गीता, ४।११

सम्प्रदायों में भ्रातृभाव

(पंचम् दिवस, १५ सितम्बर १८९३)

(१५ सितम्बर, शुक्रवार के अपराह्न में धर्मसभा के पंचम दिवस के अधिवेशन के समय भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने अपने धर्म की प्रधानता का प्रतिपादन करने के लिए वितण्डवाद में जुट गये। अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने निम्नलिखित कहानी सुनकर सब को शान्त कर दिया।)

मैं आप लोगों को एक छोटी-सी कहानी सुनाता हूँ। अभी जिन वक्ता महोदय ने व्याख्यान समाप्त किया है, उनके इस वचन को आप लोगों ने सुना है कि "आओ, हम लोग एक दूसरे को बुरा कहना बन्द कर दें", और उन्हें इस बात का बड़ा खेद है कि लोगों में सदा इतना मतभेद क्यों रहता है।

परन्तु मैं समझता हूँ की जो कहानी मैं कहनेवाला हूँ, उससे आप लोगों को इस विसंवाद का कारण स्पष्ट हो जाएगा। एक कुँए में बहुत समय से एक मेंढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषन हुआ, ' र फिर भी वह मेंढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रमविकासवादी (Evolutionists) उस समय वहाँ न थे, जो यह बतलाते कि उस मेंढक की आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसके आँखें थीं और वह प्रतिदिन ऐसे परिश्रम के साथ जल के क्षुद्र जन्तुओं और कीड़ों को खाकर जल को शुद्ध रखता था कि उतना परिश्रम हमारे आधुनिक कीटतत्त्ववादियों* (Bacteriologists) को यशस्वी बना दे! खैर, इस प्रकार धीरे-धीरे यह मेंढक उसी कुएँ में रहते मोटा-ताजा हो गया। होते-होते एक दिन एक दूसरा मेंढक जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया

---

* सब बीमारियाँ कीड़ों से उत्पन्न होती है, अतएव कीड़ों को नष्ट करना चाहिए – यह इन लोगों का मत है।

और कुएँ में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो?" – कूपमण्डूक ने पूछा।

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र! भला कितना बड़ा है वह? क्या वह भी इतना ही बड़ा है जितना मेरा यह कुआँ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेंढक ने कहा, "मेरे मित्र, भला समुद्र की उपमा इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार दे सकते हो?"

तब उस कुएँवाले मेंढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा, "तो क्या इतना बड़ा है?"

समुद्रवाले मेंढक ने कहा, "तुम किसी बेवकूफी की बात कर रहे हो! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से हो सकती है?"

अब तो कुएँवाले मेंढक ने चिढ़कर कहा, "जा, जा! मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा और कुछ नहीं है। झूठा कहीं का! अरे, इसे पकड़कर बाहर निकाल दो!"

भाइयों, ऐसा संकीर्ण भाव ही हमारे कलह का कारण है। मैं हिन्दू हूँ। मैं अपने छोटेसे कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही सम्पूर्ण संसार है। ईसाई लोग भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे हुए यही समझते हैं कि सारा संसार उसी कुएँ में है और मुसलमान भी अपने तुच्छ कुएँ में बैठे हुए उसी को सारा ब्रह्माण्ड मानते हैं। मैं आप सब अमेरिकावालों को धन्य कहता हूँ, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान प्रयत्न कर रहे हैं। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में परमात्मा आपके इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।

□□□

हिन्दूधर्म

(नवम दिवस, १९ सितम्बर १८९३)

हिन्दू धर्म की आभ्यन्तरिक शक्ति

ऐतिहासिक युग के पूर्व के केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं – हिंदू-धर्म, पारसी-धर्म और यहूदी-धर्म। ये तीन धर्म अनेकानेक प्रचण्ड आघातों के पश्चात् भी लुप्त न होकर आज भी जीवित हैं – यह उनकी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण है। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी-धर्म ईसाई-धर्म को नहीं पचा सका, वरन् अपनी सर्वविजयी सन्तान – ईसाई धर्म – द्वारा अपने जन्मस्थान से निर्वासित कर दिया गया, और यह कि केवल मुट्ठीभर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब अवशेष हैं, – वहाँ भारत में एक के बाद एक अनेकों धर्म-पन्थों का उद्भव हुआ और वे पन्थ वेदप्रणीत धर्म को जड़ से हिलाते-से प्रतीत हुए; पर भयंकर भूकम्प के समय समुद्री किनारे की जलतरंगों के समान यह धर्म कुछ समय के लिए इसीलिए पीछे हट गया कि वह तत्पश्चात् हजारगुना अधिक बलशाली होकर सम्मुखस्थ सबको डुबानेवाली बाढ़ के रूप में लौट आये; और जब यह सारा कोलाहल शान्त हो गया, तब सारे धर्म-सम्प्रदाय अपनी जन्मदात्री मूल हिन्दू-धर्म की विराट् काया द्वारा आत्मसात् कर लिये गये, पचा लिये गये।

आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र हैं, ऐसे वेदान्त के अत्युच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं, और इतना ही नहीं बल्कि बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद – इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

वेदों की नित्यता

तब, प्रश्न यह उठता है कि वह कौनसा एक साधारण बिन्दु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली त्रिज्या-रेखाएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौनसा एक सामान्य आधार है, जिस पर इतने परस्पर विरोधी भासनेवाले ये सब भाव आश्रित हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू जाति ने अपना धर्म अपौरुषेय वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और वे सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। परन्तु वेद का अर्थ है भिन्नभिन्न कालों में भिन्नभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य जाति उसे भूल भी जाए, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् को चलानेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और प्रत्येक आत्मा का परम पिता परमात्मा के साथ जो नैतिक तथा दिव्य आध्यात्मिक सम्बन्ध है, वे हमारे पता लगाने के पूर्व भी थे, और हम यदि भूल भी जाएँ, तो भी वे बने रहेंगे।

ऋषि

इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व को पहुँची हुई विभूति जानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को यह बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है कि इन अतिशय उन्नत ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

सृष्टि अनादि तथा अनन्त है

यहाँ पर कोई यह तर्क कर सकता है कि ये आध्यात्मिक नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का (अतएव सृष्टि के इन नियमों का भी)

न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी शक्ति-समष्टि का परिणाम सदा एक सा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था जब किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अक्रिय रूप से निहित थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय है; इससे तो वह विकारशील हो जाएगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ मिश्रित होता है और हर एक मिश्रित पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जाएगी, जो कि सर्वथा असम्भव एवं हास्यास्पद कल्पना है। अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी। अतएव यह सृष्टि अनादि है।

मैं एक उपमा दूँ। स्रष्टा और सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं, जिनका न आदि है, न अन्त, और जो समानान्तर हैं। ईश्वर नित्यक्रियाशील महाशक्तिस्वरूप है, सर्व-विधाता है, जिसकी प्रेरणा से प्रलय-पयोधि में से नित्यशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन होता है, उनका कुछ काल तक पालन होता है और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं। **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** अर्थात् इस सूर्य और इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान निर्मित किया है – इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन अपने गुरु के साथ किया करता है। और यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के साथ मेल खाता है।

आत्मा

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ। अपनी आँखे बन्द करकें यदि मैं अपने अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करूँ कि मैं क्या हूँ – 'मैं', 'मैं', 'मैं', तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? यह कि 'मैं' शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के समूह के सिवाय और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है – नहीं, मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन

होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। इस शरीर-ग्रहण के पूर्व भी मैं विद्यमान था। आत्मा किसी पदार्थ से सृष्ट नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्नभिन्न द्रव्यों का संयोग और इस संयोग का अर्थ होता है भविष्य में अवश्यम्भावी वियोग। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का सृजन नहीं हुआ था, वह कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। पुनश्च, कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुन्दर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती है। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसी के हाथ पाँव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं, और येन-केन-प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर ने उत्पन्न किये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? भगवान् ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी और दयालु भगवान् के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे? दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देनेवाला यह सिद्धान्त सृष्टि में इस वैषम्य के लिए कोई कारण बताने का प्रयत्न तक नहीं करता, बल्कि वह तो केवल एक सर्वशक्तिमान् स्वेच्छाधारी पुरुष का निष्ठुर व्यवहार ही प्रकट करता है।

जन्मान्तरवाद

इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि यह कल्पना युक्ति-विरुद्ध है। अतएव यह स्वीकार करना ही होगा कि इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करता है। और ये कारण हैं उनके ही पूर्वानुष्ठित कर्म। अच्छा, मनुष्य के शरीर और मन की गठन उसके पिता-पितामह आदि के शरीर-मन के अनुरूप होती है, ऐसा आनुवंशिकता का सिद्धान्त क्या उपर्युक्त समस्या का समुचित उत्तर न होगा? यह स्पष्ट है कि जीवनस्रोत जड़ और जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ हैं उन सब के उपयुक्त कारण सिद्ध हो सकते

तो फिर और स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य का विकास जड़ से हुआ है। अतएव यह स्वीकार कर लेने पर कि एक जड़ पदार्थ से सब कुछ सृष्ट हुआ है, यह भी स्वीकार करना निःसंशय युक्तियुक्त होता है कि एक मूल चैतन्य से ही समस्त सृष्टि-कार्य का निर्वाह हो रहा है। और यह केवल युक्तियुक्त ही नहीं वरन् वांछनीय भी है। पर यहाँ उसकी आलोचना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

आनुवंशिकता तथा पुनर्जन्मवाद

अवश्य, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ शारीरिक प्रवृत्तियाँ माता पिता से प्राप्त होती हैं, पर इसका सम्बन्ध केवल शारीरिक गठन सें है, जिसके द्वारा जीवात्मा की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट हुआ करती है। उसकी इस प्रवृत्तिविशेष का कारण उसी के पूर्वकृत कर्म हुआ करते हैं। एक विशेष प्रवृत्तिवाला जीवात्मा 'योग्य योग्येन युज्यते' इस नियमानुसार उसी शरीर में जन्म ग्रहण करता है, जो उस प्रवृत्ति के प्रकट करने के लिए सबसे उपयुक्त आधार हो। यह पूर्णतया विज्ञान-संगत है, क्योंकि विज्ञान कहता है कि प्रवृत्ति या स्वभाव अभ्यास से बनता है, और अभ्यास बारम्बार अनुष्ठान का फल है। इस प्रकार एक नवजात बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिए पुनःपुनः अनुष्ठित पूर्वकर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है। और चूँकि वर्तमान जीवन में इस स्वभाव की प्राप्ति नहीं कि गयी, इसलिए वह पूर्वजीवन से ही उसे प्राप्त हुआ है।

पूर्वजन्म का स्मरण

इस पर एक शंका की जा सकती है। अच्छा, ये सभी बातें तो मान ली गयीं, पर यह कैसी बात है कि मेरे पूर्व जन्म की कोई बात मुझे स्मरण नहीं है। इसका समाधान सरल है। मैं अभी अँग्रेजी बोल रहा हूँ। यह मेरी मातृभाषा नहीं है। सच पूछो तो इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं है; पर उन शब्दों को सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न

करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मानससमुद्र की सतह पर जो कुछ रहता है, वही हमें बोधगम्य हुआ करता है। और भीतर, उसकी गहराई में हमारी समस्त अनुभवराशि निहित रहती है; केवल प्रयत्न तथा उद्यमपूर्वक मन्थन करने की आवश्यकता है। वे सारे अनुभव उपरी सतह पर उठ जाएँगे और पूर्वजन्मों की स्मृति जाग उठेगी।

पूर्व-जन्म के सम्बन्ध में यही साक्षात् प्रमाण है। परीक्षा द्वारा ही किसी मतवाद की सच्चाई पूर्णतः प्रमाणित होती है। ऋषिगण समस्त संसार को ललकार कर कह रहे हैं कि हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है, जिससे स्मृति-सागर की गंभीरतम गहराई तक का मन्थन किया जा सकता है – उसका प्रयोग करो और तुम अपने पूर्व जन्मों की सम्पूर्ण स्मृति प्राप्त कर लोगे।

आत्मा देहबद्ध क्यों है

अतएव देखा गया कि हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। "इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, पानी आर्द्र नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।" हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, यद्यपि उसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ केवल इतना ही है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में इस केन्द्र का स्थानान्तर हो जाना। यह आत्मा भौतिक नियमों के वशीभूत नहीं है, वह स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। परन्तु किसी अचिन्त्य कारण से वह अपने को जड़ से बँधी हुई पाती है और अपने को जड़ ही समझने लगती है।

अब प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्णत्व की यह भ्रमात्मक धारणा कैसे हो सकती है? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से किनारा कैसे लेते हैं और कह देते हैं कि ऐसा प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता। कुछ पण्डित लोग आत्मा और जीव

दोनों के बीछ में कुछ पूर्णप्राय सत्ताओं के अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं और उन्हें अनेकविध बड़ी बड़ी वैज्ञानिक संज्ञाएँ दे देते हैं। परन्तु केवल नाम दे देने से ही मीमांसा नहीं हो जाती। प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहता है। जो पूर्ण हैं, उसकी पूर्णता किसी भी तरह या किसी भी अंश में कैसे कम हो सकती है? जो नित्य-शुद्ध-बद्ध-मुक्त-स्वभाव है, उसका उस 'स्वभाव' का अणुमात्र भी व्यक्तिक्रम कैसे हो सकता है? पर हिन्दु सत्य का निष्कपट पुजारी है। वह मिथ्या तर्क-युक्ति का सहारा नहीं लेना चाहता। वह सत्यनिष्ठ की तरह इस प्रश्न का सामना करने का साहस रखता है, और इस प्रश्न का उत्तर देता है, "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता की पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़ पदार्थों के संयोग से अपने को जड़-नियमाधीन कैसे मानने लगी।" पर वस्तुस्थिति जो है, वही रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिन्दू यह समझने का प्रयत्न नहीं करता कि ऐसा क्यों होता है, मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है' यह उत्तर इस शंका का कोई समाधान नहीं कर सकता। यह उत्तर तो हिन्दू के 'मैं नहीं जानता' उत्तर से किसी प्रकार अधिक यथार्थ नहीं है।

कर्मवाद

अतएंव हमने देखा कि मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है – एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्रपरिवर्तन। वर्तमान अवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है और भविष्य, वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे जाती है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है – क्या मनुष्य उस छोटी सी नौका के समान है, जो प्रचण्ड तूफान में पड़कर एक क्षण किसी वेगवान् तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरें क्षण भयानक गड्ढे में नीचे ढकेल दी जाती है; मनुष्य क्या इस प्रकार अपने अच्छे और बुरे कर्मों के नितान्त परवश हो केवल इधर उधर भटकता फिरता है; क्या वह कार्य-कारण के सतत प्रवाही, सर्वंकष,

भीषण तथा गर्जनशील प्रवाह में पड़ा हुआ शक्तिहीन, निःस्सहाय, नगण्य जीवमात्र है; क्या वह उस कर्म-चक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीटाणु है; जो पतिशोक से व्याकुल विधवा के आँसुओं तथा अनाथ बालक की आहों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग में आनेवाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है? इस प्रकार के विचार से अन्तःकरण काँप उठता है, परप्रकृति का नियम तो यही है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं है? – इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है? – यही करुण पुकार निराशा-विह्वल हृदय के अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणानिधान विश्वपिता के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और एक वैदिक ऋषि के अन्तःकरण में प्रेरणा-रूप में आविर्भूत हुई। ईश्वर शक्ति द्वारा अनुप्राणित इस महर्षि ने संसार के सामने खड़े होकर घन-गम्भीर स्वर से इस आनन्द-सन्देश की घोषणा की –

> शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
> आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु।
>
> * * *
>
> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
> आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।‡

– "हे अमृत के पुत्रगण! हे दिव्यधामवासी देवगण! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं है।"

"हे अमृत के पुत्रगण!" कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ! इसी मधुर नाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो। "हे अमृत के

‡ श्वेताश्वतर उपनिषद्, २–५, ३–८

अधिकारीगण!'' सचमुच हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है! उठो! आओ! ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो! तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़-पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।

अत: वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टिव्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराणपुरुष विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्त: नाचती है।'*

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है? वह सर्वव्यापी, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान् है, सब पर उसकी पूर्ण दया है। "तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है; हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करनेवाला है; तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।'' वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम द्वारा ही उसकी पूजा की जा सकती है। "ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।''

वेद हमें शुद्ध प्रेम के सम्बन्ध में इस प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब यह देखा जाय कि भगरान् श्रीकृष्ण ने, जिन्हें हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के पूर्ण विकास की साधना के सम्बन्ध

---

* भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।। – कठोपनिषद्, २।३।३

में हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए – उसका हृदय ईश्वर की ओर लगा रहे और उसके हाथ निर्लिप्त भाव से कर्म करने में लगे रहें।

अहैतुकी भक्ति

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सब से अच्छा है और उसके निकट यही प्रार्थना करना उचित है –

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।।*

– "हे भगवान्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों बार जन्म मृत्यु के चक्र में पड़ूंगा; पर हे प्रभो, केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।" भगवान् श्रीकृष्ण के शिष्य धर्मराज युधिष्ठिर उस समय भारत के सम्राट थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी सम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन सम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया, "नाथ, आप इतने धार्मिक हैं किलोग आपको धर्मराज कहते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है। मैं इस पर प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुन्दर वस्तु पर प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उस पर प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर पर प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिस पर प्रेम करना चाहिए।

* श्रीचैतन्य महाप्रभु, शिक्षाष्टकम्, ४

उस पर प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उस पर प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।"*

वेद कहते हैं कि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बँध गयी है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पूर्व के पूर्णत्व को प्राप्त हो जाएगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता – अपूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि से छुटकारा।

आत्मा का यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है और उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाववाले लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। जब उसकी कृपा होती है, तब शुद्ध और पवित्र हृदय में वह आविर्भूत होता है। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वरदर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। "तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।"† तब वह कार्य-कारण के भयानक नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। यही हिन्दूधर्म का मूलभूत सिद्धान्त है – यही उसका असल भाव है। हिन्दू, शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। यदि इस साधारण वैषयिक जीवन के परे और भी कोई अवस्था है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़ वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी परमात्मा है तो वह उसका

---

* नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत।।
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्।। – महाभारत, वनपर्व, ३१।२।५

† भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। – मुण्डकोपनिषद, २।२।८

साक्षात्कार कर लेना चाहता है; कारण ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अत: हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के प्रयत्न हिन्दू धर्म नहीं हैं, वरन् हिन्दू धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का धर्म है। केवल विश्वास का नाम हिन्दू धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म का मूलमंत्र है, "मैं आत्मा हूँ यह विश्वास होना और तद्रुप बन जाना।"

अत: हिन्दूओं की सारी साधनाप्रणाली का लक्ष्य है – सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसके दर्शन कर लेना। और इस प्रकार ईश्वरसानिध्य को प्राप्त होकर उनके दर्शन कर लेना, उन सर्व-लोक-पिता ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना – यही असल में हिन्दू धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब वह असीम आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह अन्य समस्त लाभों की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभस्वरूप परमानन्दधाम ईश्वर को प्राप्त करके परम आनन्द का अधिकारी हो जाता है।

इस विषय में सभी हिन्दू एकमत हैं। भारत के भिन्न भिन्न पन्थों का इस विषय में एक ही मत हैं। परन्तु अब बात यह है कि तुरीय अथवा निर्विकल्प अवस्था का ही नाम पूर्णावस्था है और यह निर्विकल्प अवस्था तो एकमेव, अद्वितीय और गुणातीत है, जिसमें व्यक्तित्व कदापि नहीं रह सकता। अत: जब आत्मा पूर्णत्व को, इस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब वह ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाती है तथा द्वैतज्ञान से रहित हो जाने के कारण वह स्वयं ही सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप हो जाती है। हम इस अवस्था के विषय में किन्ही-किन्ही पाश्चात्यदार्शनिकों के ग्रन्थों में बारम्बार पढ़ा करते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता है या पत्थर के समान बन जाता है। इससे उन पण्डितों की

अनभिज्ञता ही दीख पड़ती है, क्योंकि "जिन्हें चोट कभी नहीं लगी है, वे ही चोट के दाग की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं!"

ब्रह्मत्वप्राप्ति या समाधि जड़ावस्था नहीं है

मैं आपको बताता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं होती। यदि इस एक क्षुद्र शरीर में आत्मबोध होने से इतना आनन्द होता है, तो दो शरीरों में आत्मबोध का आनन्द अधिक उत्कट होना चाहिए और उसी तरह क्रमशः अनेक शरीरों में आत्मबोध के साथ साथ आनन्द की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़नी चाहिए, और जब विश्व-आत्मा का बोध हो जाएगा, तो आनन्द की परम अवस्था प्राप्त हो जाएगी।

अत; उस असीम विश्वात्मक व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए इस दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व के बन्धन का अन्त होना चाहिए। जब मैं प्राणस्वरूप हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है। जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अन्त हो सकता है विज्ञान भी अन्त में इसी सिद्धान्त पर आ पहुँचा है। विज्ञानशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि हम जो इस देह को प्रत्यक्ष और सदा एक सा मानते हैं वह भ्रम है; हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम मात्र है। वास्तव में इस निरवच्छिन्न जड़ सागर में यह क्षुद्र शरीर तरंगवत् सदा परिवर्तित होता रहता है, प्रति क्षण नवीन होता रहता है। पर हमारा चैतन्यांश कभी परिवर्तनशील या भ्रमात्मक नहीं है, इसीलिए वह पूर्णतया सत्य है, और इसी कारण केवल यह अद्वैत ज्ञान ही कि 'मैं एकमेव अद्वितीय आत्मा हूँ' एकमात्र युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

धर्मविज्ञान का चरम सिद्धान्त – अद्वैत

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवाय और कुछ नहीं है। ज्योंही कोई विज्ञानशास्त्र पूर्ण एकता तक पहुँच जाएगा, त्योंही उसका और आगे बढ़ना रुक जाएगा; क्योंकि तब तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकेगा। उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र यदि एक बार उस एक मूल द्रव्य का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं तो फिर वह और आगे नहीं बढ़

सकेगा। पदार्थ-विज्ञानशास्त्र जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगा, जिससे अन्य शक्तियाँ बाहर निकली हैं तब वह पूर्णता पर पहुँच जाएगा। वैसे ही, धर्म-शास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त हो जाएगा, जब वह उस मूल कारण को जान लेगा, जो इस मर्त्यलोक में एकमात्र अमृतस्वरूप है, जो इस नित्य परिवर्तनशील जगत् का एकमात्र अचल-अटल आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है और अन्य सब आत्माएँ जिसके प्रतिबिम्बस्वरूप हैं। इस प्रकार अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि में से होते हुए इस अद्वैतवाद की प्राप्ति होती है। धर्म-शास्त्र इससे आगे नहीं जा सकता। यही सारे विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।

हिन्दूधर्म तथा विज्ञान का सामंजस्य

सभी शास्त्र अन्त में इसी सिद्धान्त को पहुँचनेवाले हैं। आज विज्ञानशास्त्र इस दृश्यमान् जगत् को 'सृष्टि' नाम देना नहीं चाहता, वह उसे 'विकास' मात्र कहता है। और हिन्दू को बड़ी प्रसन्नता इस बात की है कि जिस सिद्धान्त को वह अपने अन्तःकरण में इतने दिनों से धारण किये हुए था, वही सिद्धान्त आज बड़ी प्रबल भाषा में, विज्ञान के अत्यन्त आधुनिक प्रयोगों द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध करके सिखाया जा रहा है।

मूर्ति-पूजा

अब हम वेदान्त-दर्शन के उत्तुंग शिखर से नीचे उतरकर साधारण अशिक्षित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। प्रारम्भ में मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने तो वह यही पाएगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व से लेकर ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है, और न इसका नाम 'कोई देवताविशेष का प्राधान्यवाद' ही हो सकता है। गुलाब को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय, पर वह सुगन्ध तो वैसी ही मधुर देता रहेगा। केवल नाम ही से तो किसी वस्तु का पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

बचपन की एक बात तो मुझे यहाँ याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। बहुत-सी मजेदार बातों के साथ वह पादरी यह भी कह गया कि "अगर मैं तुम्हारी देवमूर्ति को एक डंडा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर सकती है?" एक श्रोता ने चट चुभता-सा जवाब दे डाला कि "अगर मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूँ, तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सजा देगा।" हिन्दू भी तनकर बोल उठा, "तुम मरोगे, तब ठीक उसी तरह हमारी देवमूर्ति भी तुम्हें योग्य पुरस्कार देगी।" वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मूर्ति-पुजकों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ, जिनके चारित्र्य, आध्यात्मिक भाव और प्रेम अपना सानी नहीं रखते, तब तो मैं रूककर यही सोचता हूँ – "क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है?"

मूर्ति के बिना चिन्तन असम्भव है

अन्धविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर हठधर्मी तो उससे भी बढ़ कर है। अच्छा, ईश्वर यदि सर्वव्यापी हैं, तो फिर ईसाई गिरजाघर नामक एक स्वतन्त्र स्थान में उसकी आराधना के लिए क्यों जाते हैं? क्यों वे 'क्रॉस' को इतना पवित्र मानते है? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों करते हैं? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के हृदय में प्रार्थना के समय इतनी भावमयी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना कि श्वास लिये बिना जीवित रहना। स्मृति की उद्दीपक भाव-परम्परा के अनुसार जड़-मूर्ति के दर्शन से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। वह भी यह बात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना कि आप जानते हैं, कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिये तो

दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? नहीं है न? तो भी जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या विशाल भूमि-खण्ड की ही कल्पना अपने मन में लाने के सिवाय हम और क्या करते हैं?

तात्पर्य यह है कि अपनी मानसिक प्रकृति के नियमानुसार हमें अपने अनन्तत्व की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावानुसार गिरजाघर, मसजिद या क्रॉस से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न देवमूर्तियों से जोड़ते अवस्य हैं, पर अन्तर यह है कि जहाँ अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर ले और अपने मानव-भाइयों की भलाई करते रहें – वहाँ एक हिन्दू की सारी धर्म भावना प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या शास्त्र-ग्रन्थ तो धर्मजीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे तो उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।

मूर्ति-पूजा नीचे की सीढ़ी है

साधक को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। वेदों का वाक्य है कि "बाह्य-पूजा या मूर्ति-पूजा सब से नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सब से उच्च अवस्था तो वह है जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाय।"* देखो, वही अनुरागी

---

* उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिः पूजाऽधमाधमा।।
–महानिर्वाण तन्त्र, चतुर्थ उल्लास, १२

साधक जो पहले मूर्ति के सामने झुककर पूजा-प्रणामादि में मग्न रहता था, अब ज्ञान-लाभ के पश्चात् क्या कह रहा है – "सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, व चन्द्रमा या तारागण ही: वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं"† वह साधक बाह्य मूर्ति-पूजा से अतीत हो चुका है, पर अन्य धर्मावलम्बियों की तरह वह मूर्ति-पूजा को गाली नहीं देता और न उसे पाप का मूल ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। "बाल्य ही यौवनादि का जन्मदाता है।" तो क्या किसी वृद्ध पुरुष का अपने बचपन या युवावस्था को पाप या बुरा कहना उचित होगा?

परन्तु मूर्ति-पूजा भ्रमात्मक नहीं है

यदि कोई मनुष्य अपने ब्रह्मभाव को मूर्ति के सहारे अधिक सरलता से अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा? और जब वह उस अवस्था के परे पहुँच गया है, तब भी उसके लिए मूर्ति-पूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य को नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा अवस्थाभेद के अनुसार उस अनन्त ब्रह्म के ज्ञान तथा उपलब्धि के उपाय हैं और ये उपाय उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक जीवन उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे-धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति सम्पादन करता हुआ अन्त में उस प्रकाशमय सूर्य तक

---

† न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।
– कठोपनिषद्, २।२।१५

पहुँच जाता है।

विभिन्नता में एकता – यही तो प्रकृति की रचना हैं और हिन्दुओं ने इसे भलीभाँति पहचाना है। अन्य धर्मों में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वे तो समाज के सामने केवल एक ही नाप की कमीज रख देते हैं, जो राम, श्याम, हरि सब के शरीर में जबरदस्ती ठीक होनी चाहिए। और यदि वह कमीज राम या श्याम के शरीर में ठीक नहीं बैठती, तो उसे बिना कमीज के ही नंगे बदन रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि, धारणा या प्रकाश केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूर्तियाँ, क्रॉस या चांद तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहायक रूप हैं। वे मानो बहुत-सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकायी जाती हैं। ऐसी बात नहीं है कि प्रत्येक के लिए इन साधनों की आवश्यकता हो, पर बहुतों के लिए तो ये आवश्यक हुआ करते हैं; और जिनको अपने लिए इन साधनों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है।

हिन्दू तथा ईसाई धर्मोन्माद में भेद

यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई भयावह या जघन्य बात नहीं है, वह व्यभिचार की जननी नहीं है, वरन् वह तो अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं; पर यह ध्यान रखिये कि उनके वे दोष अपने शरीर को दण्ड देने तक ही सीमित हैं, वे कभी अन्य धर्मावलम्बियों का गला काटने नहीं जाते। एक धर्मान्ध हिन्दू भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा, जैसा कि यूरोप में 'इन्क्विजिशन' (Inquisition) के जमाने में ईसाईयो ने किया था! फिर भी इस बात के लिए उसका धर्म इससे अधिक दोषी नहीं समझा जा सकता, जितना कि डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

हिन्दूधर्म की उदारता

अतः, हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्म-जगत् भिन्न-भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों का, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए ईश्वरलाभ के उस एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा करना है, अग्रसर होना है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत करने में प्रयत्नशील है और वही ईश्वर इन समस्त धर्मों का प्रेरक है। तो फिर ये सब धर्म इतने परस्पर-विरोधी क्यों है? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभास मात्र हैं, वास्तविक नहीं; विभिन्न अवस्थापन्न भिन्न भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों को उपयोगी होने के लिए उस एक ही सत्य ने इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाव धारण किये हैं।

एक ही ज्योति भिन्न भिन्न रंग के काँच में से भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है। विभिन्न स्वभाववाले लोगों के लिए उपयुक्त होने की दृष्टि से यह वैचित्र्य आवश्यक भी है। परन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में – प्रत्येक धर्म में उसी एक सत्य का राजत्व है। कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है, "प्रत्येक धर्म में मैं, मौक्तिकमाल में सूत्र की तरह, पिरोया हुआ हूँ।" "जहाँ भी तुम्हें मानवसृष्टि को उन्नत बनानेवाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखाई दे, तो ज़ान लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ है।"‡ और इस शिक्षा का परिणाम क़्या हुआ है? सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं! भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास का वचन है, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुए मनुष्य हैं।"*

---

‡ मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

x x x

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् – गीता ७।७, १०।४१

* अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः। – वेदान्त सूत्र, ३।४।३६

हिन्दूधर्म के साथ बौद्ध तथा जैन धर्मों का समन्वय

एक बात और। ऐसा प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करनेवाला हिन्दू, अज्ञेयवादी बौद्ध धर्म और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है? यद्यपि बौद्ध तथा जैनी ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म में "मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व का विकास" इस महान् सत्य पर ही पूरा जोर दिया गया है और यही प्रत्येक धर्म का भी केन्द्रस्थ सत्य है। उन्होंने जगत्पिता जगदीश्वर को भले न देखा हो, पर उसके पुत्र-स्वरूप, आदर्श-मनुष्य बुद्धदेव या 'जिन' को तो देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया!

सार्वभौमिक धर्म

भाइयो! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का यही संक्षिप्त विवरण है। हो सकता है कि हिन्दू अपनी सम्पूर्ण योजना के अनुसार कार्य न कर सका हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान के समान ही अनन्त हो, जिस भगवान के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे; जो इतना व्यापक हो कि पनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर और जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज से इतना ऊँचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्वधर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी; वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप

को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्यमात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।

आप ऐसा सार्वभौमिक उदार धर्म सामने रखिये, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जाएँगे! सम्राट अशोक की धर्मसभा केवल बौद्ध धर्मियों की ही थी। अकबर बादशाह की धर्म-परिषद अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल दरबार की शोभा की ही वस्तु थी। पर 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर हैं इस बात की घोषणा दुनिया के सभी प्रदेशों में करने का भार नियति ने अमेरिका के लिए ही रख छोड़ा था।

वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्ला, यहूदियों का जिहोवा और ईसाईयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। पूर्व-गगन में नक्षत्र उदित हुआ; कभी धुँधला और कभी दैदीप्यमान होते हुए, धीरे धीरे पश्चिम की ओर य्रात्रा करते करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह पुनः पूर्व क्षितिज में सहस्त्रगुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है!

ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया,* तू धन्य है! तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपना हाथ कभी कलंकित नहीं किया, तूने अपने प्रतिवेशियों का सर्वस्व अपहरण कर सहज में ही धनी और संपन्न होने की चेष्टा नहीं की। अतएव तू ही सभ्य जातियों में अंग्रणी होकर शान्ति-पताका फहराने की अधिकारिणी है।

□□□

---

* अमेरिका का दूसरा नाम। कोलम्बस ने इसका आविष्कार किया था, इसलिए इसका नाम कोलम्बिया पड़ा।

भारत के लिए ईसाई क्या कर सकते हैं

(दसवाँ दिवस, २० सितम्बर १८९३)

ईसाईयों को चाहिए कि वे यथार्थ दोषादोष-विवेचना के लिए तैयार रहें, और मुझे विश्वास है कि यदि मैं आप लोगों के कुछ दोषों पर विवेचन करूँ, तो आप बुरा न मानेंगे। आप लोग अपने धर्मोपदेशक अन्य देशों में भेजकर मूर्तिपूजकों को अपने धर्म में लाने के लिए तो बड़े उत्सुक हैं, पर जो लोग अन्न बिना मर रहे हैं, उन्हें बचाने के लिए आप कोई उपाय क्यों नहीं करते? भारतवर्ष में जब भयानक अकाल पड़ा था, तो सहस्रों और लाखों हिन्दू क्षुधा से पीड़ित होकर मर गये; पर आप सब ईसाई-मतावलम्बियों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। आप लोग सारे हिन्दुस्थान में गिरजे बनाते हैं; पर मैं कहूँ, पूर्वीय देश में धर्म का अभाव नहीं है, उनके यहाँ तो वैसे ही आवश्यकता से अधिक धर्म है, वहाँ अभाव है रोटी का, अन्न का! हिन्दुस्थान के लाखों भूखे लोग सूखे गले से 'अन्न अन्न', 'रोटी रोटी' चिल्ला रहे हैं। वे तो हमसे अन्न माँगते हैं, और हम उन्हें देते हैं पत्थर! क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अनादर और तिरस्कार करना है। भूखों को आध्यात्मिक ज्ञान सिखाना उनका उपहास करना है! भारतवर्ष में यदि कोई धर्म शिक्षक द्रव्य-प्राप्ति के लिए धर्म का उपदेश करे, तो वह जाति से निकाल दिया जाएगा और बुरी तरह अपमानित होगा। मैं यहाँ पर अपने अन्न-वस्त्रहीन दरिद्र भाइयों के लिए सहायता माँगने आया था, पर मैं यह पूरी तरह समझ गया हूँ कि मूर्तिपूजकों के लिए ईसाई-धर्मावलम्बियों से, और विशेषकर उन्हीं के देश में, सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है!

□□□

बौद्ध धर्म के साथ हिन्दू धर्म का सम्बन्ध

(१६ वाँ दिवस, सितम्बर १८९३)

मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, जैसा कि आप लोगों ने सुना है, पर तो भी यह कहना कोई दोष न होगा कि मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जपान अथवा सीलोन के अधिवासी उस महापुरुष बुद्ध की शिक्षा का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। आपने अभी अभी सुना कि मैं बौद्ध धर्म की समालोचना करनेवाला हूँ, परन्तु उससे मेरा तात्पर्य उसेक दोषों का दिग्दर्शन कराना नहीं है। जिनको मैं इस पृथ्वी पर ईश्वर क अवतार मानता हूँ, उनके दोषादोष-विचार से ईश्वर मुझे बचाये! परन्तु बुद्धदेव के विषय में हम हिन्दूओं की यह धारणा है कि उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को ठीक ठीक नहीं समझा। हिन्दूधर्म अर्थात् वेदविहित धर्म और जो आजकल बौद्ध धर्म कहलाता है, इनमें आपस में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि यहूदी तथा ईसाई धर्मों में। ईसामसीह यहूदी सन्तान थे और शाक्यमुनि (बुद्ध) हिन्दू; पर भेद यह है कि जहाँ यहूदियों ने ईसा को केवल त्याग ही नहीं दिया वरन् उन्हें सूली पर भी चढ़ा दिया, वहाँ हिन्दुओं ने शाक्यमुनि को अवतार के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। किन्तु प्रचलित बौद्ध धर्म में तथा बुद्धदेव की शिक्षाओं में जो वास्तविक भेद हम हिन्दू लोग दिखलाना चाहते हैं, वह विशेषंतः यह है कि शाक्यमुनि ने कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतार नहीं लिया था। वे भी ईसा के समान धर्म की सम्पूर्ति के लिए आये थे, उसका विनाश करने नहीं। अन्तर इतना ही था कि जहाँ ईसा को प्राचीन यहूदी ठीक रूप से नहीं समझ पाये, वहाँ बुद्धदेव की शिक्षाओं को स्वयं उनके शिष्य ही ठीक न समझ सके। जिस प्रकार यहूदियों ने 'नवीन धर्म-पुस्तक' (New

Testament) में 'पुरातन धर्म-पुस्तक' (Old Testament) की पूर्णता नहीं समझी, उसी प्रकार बौद्ध यह न समझ सके कि बुद्धदेव की शिक्षाएँ हिन्दूधर्म के सत्यों की ही परिणति हैं। मैं यह बात फिर से दुहराना चाहता हूँ कि शाक्यमुनि ध्वंस करने नहीं आये थे, वरन् वे हिन्दू धर्म की पूर्णता के सम्पादक थे, उसकी स्वाभाविक परिणति थे, उसके युक्तिसंगत विकास थे।

हिन्दूधर्म के दो भाग हैं – एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड का विशेष पठन-पाठन संन्यासी लोग किया करते हैं। ज्ञानकाण्ड में जातिभेद नहीं है। भारतवर्ष में उच्च अथवा नीच जाति के लोग भी संन्यासी हो सकते हैं, और तब उनमें जातिभेद नहीं रह जाता। धर्म में जातिभेद नहीं हैं; जाति तो एक सामाजिक बन्धन मात्र है। शाक्यमुनि स्वयं संन्यासी थे, और यह उनके विशाल हृदय की महिमा ही थी कि उन्होंने वेदों के छिपे हुए सत्यों को निकालकर उनका प्रचार समस्त संसार में किया। इस जगत् में सब से पहले वे ही ऐसे हुए, जिन्होंने धर्मप्रचार की प्रथा चलायी – इतना ही नहीं, वरन् मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार भी सब से पहले उन्हीं के मन में उदित हुआ।

सर्व भूतों के प्रति, और विशेषकर अज्ञानी तथा दीन जनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति ही इस महापुरुष के विशेष गौरव की बात है। उनके कुछ शिष्य ब्राह्मण थे। बुद्ध के धर्मोपदेश काल में संस्कृत भारत की जन-भाषा नहीं रह गयी थी। वह उस समय केवल पण्डितों के ग्रन्थों की ही भाषा थी। बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण-शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत भाषा में करना चाहा था, पर बुद्धदेव उनसे सदा यही कहते, "मैं द्ररिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, उन्ही की भाषा में मुझे शिक्षा देने दो।" और इसी कारण उनके अधिकांश उपदेश अब तक भारत की तत्कालीन भाषा – प्राकृत – में पाये जाते हैं।

दर्शनशास्त्र का आसन कितना ही ऊंचा क्यों न हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यू हैं, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता है, जब तक मनुष्य के अन्तःकरण से दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन बाहर निकलता है, तब तक

इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी कायम रहेगा।

दर्शनशास्त्र की ओर देखने पर, उक्त महापुरुष के शिष्यों ने वेदों की सनातन चट्टान पर बहुतेरा हाथ-पैर पटका, पर वे उसे तोड़ न सके। और दूसरी ओर से देखने पर उन्होंने किया यही कि जनता के बीच से वे उस सनातन परमेश्वर को उठा ले गये, जो प्रत्येक नर-नारी के प्रेम और भक्ति का आश्रय-स्थल है। फल यह हुआ कि यह धर्म भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो गया; और आज इस धर्म की जन्मभूमि भारत में एक भी ऐसी स्त्री या पुरुष नहीं है, जो अपने को बौद्ध-धर्मावलम्बी कहे!

पर बौद्ध धर्म के तिरोधान से हिन्दू धर्म भी कुछ अंशों में क्षतिग्रस्त हुआ – उसमें समाज-सुधार का वह उत्साह और तत्परता, प्राणिमात्र के प्रति वह अद्भुत सहानुभूति और दया तथा सर्वत्र ओतप्रोत वह अपूर्व जागृति की लहर नहीं रह गयी जिसे बौद्ध धर्म ने जन-जन में प्रवाहित किया था एवं जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना उन्नत और महान् हो गया था कि तत्कालिन भारत के सम्बन्ध में लिखनेवाले एक यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि एक ऐसा हिन्दू नहीं दिखाई देता, जो मिथ्या-भाषण करता हो; एक ऐसी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रता-धर्म से भ्रष्ट हो!

हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही। हमारे पारस्परिक वियोग ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय बिना – यह निश्चित है। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह विभेद ही भारत वर्ष की अवनति का कारण है। यही कारण है कि आज भारत तीस करोड़ भिक्षुकों की आवासभूमि हो गया है और सहस्र वर्षों से विजातीय आक्रमणकारियों का दास बना हुआ है। अतः आओ, हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्धदेव के उस अद्भुत हृदय, महानुभावता और लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें।

□□□

विदाई

(१७ वाँ दिवस (अन्तिम दिन), २७ सितम्बर १८९३)

संसार में सब धर्मों के सम्मेलन की सम्भवपरता आज पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध हो गयी है। परमेश्वर ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया है तथा उनके निःस्वार्थ प्रयत्न को सफलतारूपी शुभ फल द्वारा विभूषित किया है।

उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद है, जिनके विशाल हृदय तथा सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत कल्पना का स्वप्न देखा और फिर उसे कार्य में परिणत कर दिया। उन उदार भावों को मेरा धन्यवाद, जिनकी इस सभामंच पर वर्षा हुई है। इस विद्वान् श्रोतृमण्डली को भी मेरा धन्यवाद, जिसने मुझ पर समान रूप से कृपा की है और ऐसे प्रत्येक भाव को आदरपूर्वक स्वीकार किया है, जो मत-मतान्तरों के आपसी घर्षणों को हलका करने का प्रयत्न करता है। इस समरसता की मंजुल ध्वनि में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच-बीच में सुने गये हैं। उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद, क्योंकि उन्होंने अपने स्वर-वैचित्र्य से इस समरसता को और भी मधुर बना दिया है।

धर्म-समन्वय की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत-कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं इस सम्बन्ध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूँगा। पर यह कह दूँ कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह समन्वय किसी एक धर्म की विजय और बाकी सब धर्मों के विनाश से साधित होगा, तो उनसे मेरा कहना है कि "भाई! तुम्हारी यह आशा असम्भव है।" क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जाएँ? – कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करें! क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जाएँ? ईश्वर इस इच्छा से बचावे! बीच भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु

तथा जल उनके चारों ओर रख दिये गये। तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपने नियम से ही बढ़ता है – वायु, जल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनसे अपने अंग-प्रत्यंग की पुष्टि करता हुआ एक बड़ा वृक्ष हो जाता है।

ऐसा ही धर्म के सम्बन्ध में भी है। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहि कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस सर्वधर्मपरिषद् ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है – उसने यह सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायाविशेष की सम्पत्ति नहीं हैं एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।

अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाए देता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस – जैसे लोगों के अड़ंगों के बावजूद भी प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा – "सहयोग, न कि विरोध"; "पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश"; "समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह"!

□□□

"हे अमृत के अधिकारीगण!" सचमुच हिन्दू तुम्हें पापी कहना
अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो,
अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो।
तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी?
मनुष्य को पापी कहना ही पाप है,
वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है! उठो!
आओ! ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को
झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो।

- स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२
e-mail - rkmnpb@gmail.com
Ph - 0712-2432690
For Online purchasing
www.rkmathnagpur.org

(H009) Chicago Vaktruta : Actual Price : ₹ 12.00
Subsidized Price : ₹ 5.00 Only